

अतीत की शिक्षा परम्परा व पुराण विद्या

महेश दुर्गापाल

जे.आर.एफ., संस्कृत विभाग, पौड़ी परिसर
हे.न.ब.गढ़वाल विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड

सारांश

इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की विवेचना प्राचीन, मध्यकालीन व अर्वाचीन सामान्यतः तीन भागों में की है। इस विवेचना के क्रम में प्राचीन इतिहास को कभी कभी अतीत कहकर प्रकाशित किया जाता है। दोनों शब्द इतिहासकारों ने प्रयुक्त किये हैं अर्थात् प्राचीन भी व अतीत भी। हम जानते हैं प्राचीन भारत से संबंधित जितने भी विषय आलोचकों के सामने आये हैं अथवा पाठकों के सम्मुख आये हैं वे अपने में राष्ट्र का गौरव बनते गये हैं। इन तथ्यों में रोचक इतिहास रहता है। इन रहस्यात्मक तथ्यों का उल्लेख करना भी अपने में प्रभावोत्पादक लगता है। जैसे हम सिंधु सभ्यता की नगरीय व्यवस्था में प्रयोजित नालीयों का ही प्रबंधन देखें तो ये अद्भुत सी लगती है। मनुष्य को सदा ही रहस्यों ने आकर्षित किया है, और यही आकर्षण भावी समाज के लिए निधि बनती है। प्राचीन भारत में आज भी ऐसे अनगिनत तथ्यों पर रहस्यमयी पर्दा पड़ा है, जिन पर अध्ययन किया जाना अनिवार्य है। प्रस्तुत आलेख में ऐसे ही एक विषय प्राचीन भारत की शिक्षा परम्परा से लिया गया है जो विशेषतः पुराणकालीन परम्परा पर आधारित है।

कुंजी शब्द — चतुर्दशविद्या, पुराणविद्या, मन्वन्तर, व्यास, चतुर्युग

प्रस्तावना

मानव को जन्म से ही भरण पोषण के लिए सब मिल गया हो ऐसा असंभव है, उसने जो कुछ अर्जित किया वह युगों-युगों का प्रयास है, यह मानव की खोजी प्रवृत्ति का परिणाम है। आज भी मनुष्य ने अपनी खोजी प्रवृत्ति में निरन्तरता बना रखी है और यह आशा है कि मनुष्य की यह प्रवृत्ति भावी समाज के निर्माण में उपकारक होगी। अग्निपुराण में कहा गया है “नरत्वं दुर्लभं लोके”¹ अर्थात् मनुष्य जीवन समस्त जीवों में दुर्लभ है। ऐसी दुर्लभता की प्राप्ति का परम उपयोग यही है कि कैसे भी इसको प्रतिक्षण मानव समुदाय के उपकार के लिए प्रयुक्त किया जाए। सामाजिक उपकार के लिए चिन्तन का एक अविरल प्रभाव भारत में भी निरन्तर देखने को मिला है, और इसी चिन्तन से अनेकों परिवर्तन के साथ वर्तमान समाज स्थापित है। चिन्तनशील मानव की सुदीर्घ परम्परा ने मानव कल्याण के लिए विविध दृष्टिकोणों से विचार किया, इन्हीं विचारों की श्रृंखला में हम पाषाणयुग से आज संचार तकनीकी के युग तक पहुंचे हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षा कैसी थी अथवा क्या थी, यह विषय विचारकों के मध्य निरन्तर बना रहता है। इससे नये-नये तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता रहता है। हमें पता है एक शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक और छात्रा हों यह तो परम आवश्यक है, किन्तु इससे भी कही ज्यादा

इन दोनों के मध्य विमर्श के लिए विषय-वस्तु का होना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि विषय-वस्तु के बिना कैसे सम्प्रेषण होगा, संवाद कैसे बनेगा, यह अकल्पनीय सा लगता है। इसलिए शिक्षण के लिए विषय-वस्तु का होना सापेक्ष है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ जो कभी प्राचीन परम्परा में गुरु-शिष्य प्रणाली पर अश्रित श्रुतिरूप में ही प्रचलित थे, इनको पढ़ने में अनुबन्ध चतुष्टय की एक प्रणाली देखी जाती है। इसमें चार चीजों को शास्त्राकार शिष्यों के सामने रखता है “अधिकारी, विषय, सम्बंध, व प्रयोजन”। हम देख सकते हैं कि इसमें विषय भी एक अनुबंध है। इसमें यह बताना आवश्यक था कि हम जो कुछ भी पढ़ें उसका विषय क्या होगा, अर्थात् शिक्षण किस विषय पर होगा। इसका परिचय ग्रन्थ को प्रारंभ करते ही देना होता था। शास्त्रों में यह विषय परिचय की अवधारणा से ही आज पाठयक्रम का विकास समझा जा सकता है। समय का प्रवाह है, तब विषय मुख्यतः सै(ान्तिक अधिक थे और आज प्रयोगात्मक शिक्षण का दौर है। पुराणकालीन शिक्षा परम्परा के लिए विषय प्रायः चौदह माने गये हैं, और इन चौदह विषयों को एकरूप में विद्यामात्रा ही कहा गया है। इन्हीं चौदह विद्याओं में एक विद्या पुराण-विद्या भी थी, पुराण विद्या अर्थात् जिनका आज विभिन्न पुराणों के रूप में अस्तित्व है उसका सामुहिक अभिधान।

चिन्तन व प्रयोग दो धाराएँ हैं जिनके सामंजस्य से समाज के विकास की सरिता प्रवाहित होती है। इस तथ्य को हमारे प्राचीन विचारक भलिभॉति जानते थे। अतः इन्होंने दोनों को ही तत्काल की आवश्यकताओं के आधर पर शिक्षा में जोड़े रखा। प्राचीन भारत की शिक्षा के पाठयक्रम में इन चौदह विषयों को प्रमुखता दी जाती थी। कहीं-कहीं इन चौदह विद्याओं के अतिरिक्त चार और विषय जोड़े गये हैं, जिनसे इनकी संख्या अट्ठारह हो जाती है। गम्भीरता से यदि विचार किया जाय तो इन अट्ठारह विद्याओं में हम एक ऐसा सन्तुलन देख सकते हैं जिससे समाज व शिक्षा में सामंजस्य बनाने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। आधुनिक शिक्षाशास्त्री शिक्षा व समाज के सन्तुलन के लिए शिक्षा के दो प्रारूप प्रस्तुत करते हैं, परम्परागत व व्यवसायिक। ये दोनों प्रारूप ही इन चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्याओं में आप देख सकते हैं। इन सभी विषयों पर सोचने व समझने से ऐसा लगता है कि आज से ज्यादा चिन्तन प्राचीन मानव संस्कृति के निर्माताओं ने किया है, क्योंकि इन सभी प्रचलित विद्याओं पर एक व्यवस्थित विचारधरा व उसका समू(इतिहास मिलता है। यह आवश्यक है कि काल के प्रवाह में कई विषय व ग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं तथा कुछ विषयों को योग्य उत्तराधिकारी नहीं मिल पाए, अतः वे भी विलुप्त हो गये। ऐसी प्राचीन शिक्षित विचारधरा का संक्षिप्त प्रमाण हमें अकेला अग्निपुराण ही दे देता है जो किसी भी आधुनिक विश्वकोष से कही बढ़कर है। आज जो भवन निर्माण के लिए एक अलग विद्या है, यदि प्राचीन वास्तुविद्या को देखा परखा जाए तो यह इसी विषय के प्रवर्तन के लिए ही जन्मी थी। यह वास्तुशास्त्रा भी उतना ही विश्वसनीय और सापफ-सुथरा विषय दिखाई देता है। शिवपुराण में एक स्थल पर भवन निर्माण से पूर्व भूमि के परिक्षण के लिए मिट्टी का रंग, गन्ध आदि को माप बताया गया है²। ऐसे अध्ययनों से कोई भी पाठक सहसा इसी तथ्य को स्वीकार कर लेगा कि भारत में यह शिक्षा समू(रही होगी। पुराणविद्या भी ऐसे उपयोगी व समू(विषयों का भण्डार है जिससे मानवोपकार के लिए उपयोगी वस्तु ली जा सकती है।

यहाँ पर यह बताना अनिवार्य है कि चौदह विद्याओं में कौन-कौन सी हैं। शिवपुराण में इसके लिए एक श्लोक दिया गया है –

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रां च विद्याश्चैताश्चतुर्दश।।³

– चार वेद, छः वेदांग, न्याय, मीमांसा, पुराण व धर्मशास्त्र।, यही चौदह विद्याओं के नाम हैं। वेद तो प्राचीन भारत की समस्त शिक्षाओं की आधारशिला हैं इनसे पृथक हम सोच भी नहीं सकते थे अतः पहली विद्या वेद थी। चारों वेदों से इतर अन्य छः वेद के अंग, पुराण, धर्मशास्त्रा, न्याय, व मीमांसा थे। वेद स्वयं में “सर्वज्ञानमयो हि सः”⁴ कहे गये हैं, अतः समस्त विद्याएँ वेद से ही प्रभावित थी। सभी विद्याओं की वेदमूलकता से ही यह समय वैदिक काल कहा जाता है। वेदों से इतर जो छः वेदांग कहे गये हैं उनमें तीन शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त नामक विद्याओं का जहाँ भाषाशास्त्रीय महत्व है, वही छन्दविद्या का संगीत से, ज्योतिषविद्या का खगोल व गणित से, कल्पविद्या का विविध सामाजिक विषयों से संबद्ध था। मीमांसाविद्या व न्यायविद्या दार्शनिक पंक्ति से वेद के भाव को स्पष्ट करते हैं। अन्तिम दोनों विद्याएँ चिन्तन के एक सूक्ष्म अन्वेषण को प्रकाशित करते हैं। धर्मशास्त्रा नामक विद्या एक सामाजिक विधि की नियामक विद्या थी। वर्तमान में स्मृति ग्रन्थ जैसे मनुस्मृति इसी विद्या की मुख्य कृति है। राज्य के लिए संविधान बनाने का प्रवर्तन भारत में प्राचीन काल में हो चुका था। आज इन्हीं विद्याओं का परिष्कृत रूप समाज में देखा सुना जाता है। सभी का आद्य इतिहास इन्हीं चतुर्दश विद्याओं में प्रतीत होता है। पुराण नाम की विद्या पर आगे विवेचना की जाएगी। इन चौदह विद्याओं से इतर अन्य चार जो विद्याएँ थी वे –

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्वश्चेत्यनुकमात्।

अर्थशास्त्रां परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृतः।।⁵

– अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद व अर्थशास्त्रा के साथ अब ये विद्याएँ अद्वारह हो जाती थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इन चार विद्याओं के स्थान पर वार्ता, कामसूत्रा, शिल्पशास्त्रा व दण्डनीति को रखा है⁶। इनमें पूर्व पौराणिक मत को माना जाय या उत्तर को यह तो विवाद का विषय है, किन्तु यहाँ पर पुराणों की मान्यता ही उल्लिखित है। यही चार अन्य विद्याएँ हैं ;इन्हीं को क्रमशः)ग्वेदादि का उपवेद भी माना जाता है। जो कहीं न कहीं आज अपने नवोन्मेष के साथ वर्तमान समाज में यथार्थ हैं। इन अष्टादश विद्यास्थानों का अपना-अपना विस्तृत इतिहास है, और ये हमारे अतीत के वे विषय हैं। इन पर कभी नियमित पठन-पाठन हुआ करता था। हाँ इनमें धनुर्वेद का इतिहास उजला नहीं है, इसकी शिक्षा के प्रमाण व ग्रन्थ इतने नहीं मिलते जितने अन्य विद्याओं के मिलते हैं। पिफर भी विद्या के रूप में यह विषय स्वीकृत है अतः इस पर शास्त्रा व इसके आचार्य होने पर संदेह नहीं किया जा सकता। धनुर्वेद का भी इतिहास व शिक्षा परम्परा का प्रचलन नियमित होता

तो संभवतः भारत के पास रक्षा से जुड़े विषयों का एक विशद ज्ञान होता। अस्तु जो है हम विषय के अनुरूप चौदह विद्याओं में पुराण-विद्या की ही विवेचना करेंगे।

वर्तमान में कोई भी पुराण शब्द का भाव अष्टादश ग्रन्थों की सामुहिक थोती के अभिधन से ही लेगा जिनका कि वर्तमान में बहुध नाम सुना जाता है। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं लगता। पुराणविद्या से न केवल महुराणों का ही नहीं अपितु उपपुराणों व औपपुराणों का भी बोध होता है। अभिप्राय यह है कि महापुराण, उपपुराण व औपपुराणों का ही सामुहिक अभिधन पुराण शब्द है, जिसे एक विद्या माना गया है। महापुराण कुछ अलग थे ऐसा नहीं है जो वर्तमान के पुराण माने गये हैं वे ही कहीं-कहीं महापुराण से संबोधित किये गये हैं⁷। उपपुराणों का प्रचलन व अस्तित्व प्राचीन है और इनकी भी संख्या अद्वारह बताई जाती रही है, और औपपुराण भी इतने ही कहे जाते हैं। अतः पुराण जो कि एक विद्या थी इसका प्रसार महापुराण, उपपुराणों व औपपुराण के रूप में प्राचीन भारत में हुआ था ऐसा सामान्यतः समझा जाता है।

भारत में जो भी संस्कृति पली बढ़ी उसमें आर्दशवादिता का प्रभाव रहा है। भारतीय संस्कृति में जन्मने वाले अपने इस मौलिकता को एक निमेष के लिए भी विस्मृत नहीं कर सकते। यहाँ पर प्रत्येक प्राचीन विषय का इतिहास अलौकिकता से प्रकट होता है। अलौकिक अर्थात् जिसका आदि श्रोत लौकिक प्रमाणों की परिधि में नहीं पहुँच सकता, जो सदा से अज्ञात है। पुराण विद्या का भी इतिहास ऐसे ही अलौकिक परम्परा में प्रारंभ होता है।

चार युगों वाली गणना प(ति विषु(भारतीय मौलिक प(ति है। हमारे प्राचीन शास्त्रावेत्ताओं ने इसी गणना के आधार पर अपने मत प्रस्तुत किये हैं। चारों युगों के प्रवर्तन का एक क्रम होता है, और निश्चित मान के बाद ये परिवर्तित भी हुआ करते हैं। इन चार युगों के क्रमिक प्रवर्तन में ही प्रत्येक द्वापरयुग आने पर हमारे अलौकिक कहे जाने वाले वेद व पुराण नामक शास्त्रों की सृष्टि की जाती है। इन शास्त्रों की सृष्टि का प्रयोजन मानव मात्रा का कल्याण हुआ करता है। इन शास्त्रों की सृष्टि के लिए कोई न कोई आदिपुरुष चाहिए होता है, और इस आदिपुरुष में ईश्वर का अंश हुआ करता है ऐसा पौराणिक मत है। क्योंकि ये शास्त्रा प्रत्येक द्वापर में ही रचे जाते हैं, अतः प्रत्येक द्वापर में जिसके द्वारा ये रचे जाते हैं वह व्यास पद पर सुशोभित होता है। व्यास पुराणों के अनुसार एक उपाधि मात्रा है, और इसके लिए एक निश्चित व्यक्ति का चयन पूर्व में ही हो चुका होता है। व्यास कहने से हम मात्रा कृष्णद्वैपायन तक ही सिमित नहीं हो सकते। ये अन्य भी हो सकते हैं, और हुए भी हैं ऐसा मत हमारे पुराणों का है। हमारी मौलिक गणनाप(ति में युगों की गणना मन्वन्तर के लिए हुआ करती है, जैसे माहों की गणना वर्ष के लिए हुआ करती है। मन्वन्तरों के योग से कल्प होता है। प्रायः एक मन्वन्तर में इकहत्तर चतुर्युग ;अर्थात् इकहत्तर बार चार युगों का क्रमशः प्रवर्तनद्ध हुआ करते हैं⁸। समस्त मन्वन्तरों की

संख्या चौदह मानी गई है। चौदह मन्वन्तरों में से वर्तमान में वैवश्वत नामक सातवों मन्वन्तर प्रवर्तित है।

इस परिगणना के अनुसार जो वैवश्वत नामक सप्तम् मन्वन्तर वर्तमान में चल रहा है उसके अठाइसवें चतुर्युग में हम हैं। इस मन्वन्तर से पूर्व अब तक सत्ताईस चतुर्युग व्यतीत हो चुके हैं। अठाइसवों चतुर्युग में भी अब कलियुग ही मात्रा शेष है अन्य कृतयुग, त्रोतायुग, व द्वापरयुग अतीत में बीत चुके हैं। अब क्योंकि वैवश्वत मन्वन्तर के अठाइसवें चतुर्युग सहित अठाईस द्वापर हो चुके हैं और परम्परा के अनुसार प्रति द्वापर में अठाईस व्यास कभी भूतकाल में इसी मन्वन्तर में हो चुके हैं। इन्होंने ही वेद व पुराण जैसी विद्याओं के प्रत्येक चतुर्युग में प्रवर्तित किया है। हम जिस चतुर्युग में हैं उसके व्यास बादरायण हैं, वर्तमान की वेद पुराणादि विद्याओं के ये ही आदि श्रोत हैं। वस्तुतः अनादि रूप में वेद पुराणादि जैसी विद्याओं का स्वरूप अखण्ड संहिता के रूप में रहा करता है। धीरे धीरे चतुर्युग के उत्तरभाग में द्वापर व कलियुग में जब लोग क्लेशभीरु होने लगते हैं, तब ऐसे अखण्ड संहिता को पढ़ने व समझने में वे खासे परेशान होने लगते हैं। इन अखण्ड संहिताओं को जनकल्याण के लिए विभजित किया जाता है। वेद के चार भाग व पुराणों के अठारह भाग और यदा-कदा कुछ अन्य ग्रन्थ भी व्यास के द्वारा लिखे जाते हैं। जैसे वर्तमान व्यास द्वारा वेदान्त सूत्रा आदि। शिवपुराण में कहा गया है :-

एवं व्यस्ताश्च वेदाश्च द्वापरे द्वापरे द्विज ।

निमित्तानि पुराणानि हि अन्यानि ततः परम ॥

पुराणानां च संक्षिप्त चतुर्लक्षप्रमाणतः ।

अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् ॥⁹

— इन श्लोकों में यही भाव है कि वेद व पुराण नाम की विद्या को सर्वग्राह्य बनाने के लिए वेदव्यास को प्रयत्न करना होता है। पुराणसंहिता का अखण्डात्मक परिमाण सौ करोड़ श्लोकों वाला बताया गया है। इसी संख्या से ये संक्षिप्त करके चार लाख बनाये जाते हैं, और उन्हीं को अठारह पुराणों में विभाजित किया जाता है। यहाँ एक और बात समझनी होगी कि बहुत संभव है सौ करोड़ श्लोकों को यहाँ अनुमानतः रखा गया हो। क्योंकि इस संख्या से इसके यथार्थ संख्या का परिणाम कम व अपरिमेयता का अनुमान अधिक लगाया जा सकता है। जैसे हम सहस्रशीर्षा कहने से परमेश्वर के हजार सिर नहीं मानते अपितु हमारा अभिप्राय उसकी अपरिमेयता में ही होता है। इन्हीं अठारह पुराणों का विकास कालान्तर में उपपुराण व औपपुराणों में होता है।¹⁰

प्रत्येक विद्या का अपना एक लक्षण होता है अतः इस विद्या का भी है जिसकी व्याख्या विद्वान करते आये हैं। पुराण विद्या के लक्षण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर व

वंशानुचरित रखे जाते हैं। ये पाँचों पारिभाषिक षब्द हैं, जिनमें सृष्टि के आदि से ही इतिहास भूगोल प्रारंभ किया जाता है। सर्ग व प्रतिसर्ग सृष्टि की संरचना से संबन्धित हैं। वंश व वंशानुचरित इतिहास से व पाँचवों जो मन्वन्तर है, उसकी व्याख्या उपर संक्षेप में देखी जा सकती है। पुराणलक्षण सर्वमत में स्वीकृत होता आया है और अधिकांश पुराण भी इसी मत को मानते हैं। यह सर्वमान्य लक्षण अनेकों पुराणों में लिखा भी गया है। हाँ ! लक्षण लिखने के बाद भी कई पुराण स्वयं ही उस पर खरे नहीं उतरते अतः स्थिति बदतोव्याघात की भी हो जाती है। उपयुक्त मुल्यांकन करने पर समीक्षकों की दृष्टि में दो चार ही पुराण ऐसे हैं जो पुराण कहे जा सकते हैं, क्योंकि लक्षणों की पुष्टि इतनों में ही होती है। क्या ऐसे पुराणों को इस श्रृंखला से बाहर रखा कि वे पुराण लक्षण पर खरे नहीं उतरते ? यह सत्य नहीं है न ही मान्य है। समझना और समझाना पढेगा हमें कि कुछ और भी रहस्य इसमें हो सकता है। पुराणों का जो लक्षण है वह सर्वमत होने के बाद भी महाभारत में क्यों अनुलिखित है, जबकि महाभारत तो तात्कालिक भारत दर्पण की अवधारणा को जो चरितार्थ करता है। एक और बात है जो सभी पुराणों में समान है वह उनका वेदार्थोपबृंहण के लिए लिया गया संकल्प। प्रायःसभी पुराण इसके लिए भी एकमत हैं कि जो उसमें कहा गया है वह वेदानुसार ही है। महाभारत भी इसके लिए अपनी सहमति देता है कि पुराणों के द्वारा वेदार्थोपबृंहण किया जाता है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

बिभेत्यल्पश्रुताद्देवो मामयं प्रतरिष्यति ।।

पुराण पूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्सना प्रकाशिता ।¹¹

– मत यह है कि जैसा हि पुराण पंचलक्षण का महत्व है उसी तरह वेदार्थोपबृंहण का भी है, दोनों पुराणविद्या के मूल में है। अतः पुराणों में कोई बदतोव्याघात नहीं है। राजशेखर जैसे संस्कृत विद्वान भी वेदार्थोपबृंहण को प्रमुखता देते हैं “तत्रा वेदाख्यानोपनिबंधप्रायं पुराणमष्टादशध¹² अर्थात् वेदों के आख्यानों पर लिखे गये पुराणों की संख्या अठारह है। इसको स्पष्ट करने के बाद ही राजशेखर पंचलक्षण का भाव भी प्रकट करते हैं। अतः दोनों को महत्व दिया जाना राजशेखर को अभिष्ट था।

आचार्य शंकर के आप्त वाक्य संस्कृत के मेरु माने जाते हैं, किन्तु पुराणों के लिए इनका कोई भी आप्तप्रमाण नहीं मिलता। सम्पूर्ण पुराणविद्या पर इन्होंने असाधारण चुप्पी साधे हुई है, हाँ कही-कही वेदान्त का भाव (शाररिक-भाष्यों में) समाझाते हुए ये पुराणों से कोई श्लोक दे देते हैं, और इति स्मृतौ कहकर ही विराम ले लेते हैं। पंचलक्षण का पालन कई पुराणों में नहीं हुआ है किन्तु पुराणों ने वेद के संबन्ध को कही नहीं छोड़ा। पुराण अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्येक पुराण वेदार्थ के ही सन्निकट रहना चाहता है। अतः जो हमारी पुराणविद्या प्रारंभिक अखण्ड रूप में थी उसमें वेदार्थोपबृंहण प्रमुखता से

किया गया होगा तथा सर्गादि कि विवेचना भी रही होगी। परम्परा ने पंचलक्षण पर ही बल दिया और उसे सर्वमान्य बना दिया गया। आज भी कई पुराण अध्येता पंचलक्षण के बदतोव्याघात से हमारे पुराणों पर प्रश्न करने लगते हैं। हम यदि पौराणिक वेदार्थोपबृंहण को भी पुराण समीक्षण में सामान्य मानने लगें तो बदतोव्याघात को कम किया जा सकता है। यह नहीं है कि सर्गादि लक्षण नहीं है! यह ठीक है, किन्तु बेदार्थोपबृंहण को भी पौराणिक आलोचना का मुख्य विषय मानना होगा। इससे अनेकविसंगतियों दूर हो सकती है। पिफर महाभारतकार, कविराज राजशेखर, आचार्य शंकर ने भी इसकी सम्मति तो दी ही है।

अन्त में यही कहा जाना होगा कि अतीत की शिक्षा परम्परा में सर्वव्यापकता थी। सभी विषय तात्कालिक समाज के अनुकूल ही थे। पुराण नामक जो विद्या का उदय हुआ था वह मनुष्य के अभ्युदय के लिए ही हुआ था। यह विद्या भी वेद की भाँति पवित्रा व अनादि है। इसे शाश्वत विद्याओं में स्थान दिया गया है जिससे इस विद्या की अलौकिकता को समझा जा सकता है। कोई भी कार्य जब किसी उच्च आदर्शों से युक्त हो और कर्ता को श्रेय की भी इच्छा न हो, ऐसा इतिहास भारत में ही मिलता है। यह हमारे प्राचीन मनस्वियों के पवित्रा कर्तव्य का बोध है। हमारी भारतीय परम्परा में आज भी ऐसी कई विद्याएँ हैं जिनका प्रारंभिक इतिहास ऐसे ही माना जाता है। इसी परम्परा पर यह आलेख पुराण नाम की एक विद्या पर लिखा गया है।

सन्दर्भित ग्रन्थों के नाम

- 1—अग्निपुराण / 337-3
- 2—शिवपुराण, कैलाशसंहिता / 5,1
- 3—शिवपुराण, वायवीयसंहिता पूर्वभाग, / 1-25
- 4—मनुस्मृति / 2,7
- 5—शिवपुराण, वायवीयसंहिता पूर्वभाग / 1,26
- 6—काव्यमीमांसा / अध्याय-2
- 7—विष्णुपुराण / 3 / 6,24
- 8—मनुस्मृति / 1,79
- 9—शिवपुराण, वायवीयसंहिता पूर्वभाग / 1,35-38
- 10—मत्स्यपुराण / 53,63
- 11—महाभारत,आदिपर्व / 1,86
- 12—काव्यमीमांसा / अध्याय-2